बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 67

एनबीएफसी का संकट

गैर बैंकिंग वित्तीय कंपनियां (एनबीएफसी) एक बार फिर चर्चा में हैं। बीते सप्ताह कई एनबीएफसी की रेटिंग में गिरावट आई। इनमें अनिल अंबानी के समूह की वित्तीय कंपनियों और पीएनबी हाउसिंग फाइनैंस शामिल हैं। बॉन्ड बाजार की बात करें तो वह वित्त वर्ष 2019 दूसरी तिमाही में इन्फ्रास्ट्रक्चर लीजिंग ऐंड फाइनैंशियल सर्विसेज (आईएलऐंडएफएस) के डिफॉल्ट करने के बाद से ही जोखिम में था। ऐसे में ताजा गिरावट ने एनबीएफसी की पूंजी और वृद्धि की लागत पर सवालिया निशान लगा दिए हैं। बीते कुछ वर्ष में एनबीएफसी क्षेत्र ने कॉर्पोरेट बॉन्ड बाजार की कुल उधारी का करीब 70 फीसदी हिस्सा लिया है। परंतु आईएलऐंडएफएस की घटना के बाद न केवल नकदी की किल्लत हुई है बल्कि इनकी मांग में भी कमी आई है। इस बीच क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों ने कमजोर कंपनियों की रेटिंग घटा दी तथा अन्य के पूर्वानुमान में संशोधन किया। आज, जो एनबीएफसी बॉन्ड जुटाने में सक्षम हैं, उनकी लागत बढ़ रही है। एएए रेटिंग वाली एनबीएफसी सरकारी बॉन्ड से करीब 150 आधार अंक तक ऊपर हैं। जबकि एएए रेटिंग वाली गैर वित्तीय कंपनियां 100 अंक के आधिक्य पर पूंजी जुटा रही हैं। आईएलऐंडएफएस की घटना के पहले यह विस्तार 50 आधार अंक तक था। नकदी की कमी ने एनबीएफसी क्षेत्र का संकट और बढ़ा दिया। नोटबंदी के कारण नकदी की किल्लत हुई। हालांकि केंद्रीय बैंक ने खुले बाजार में बिक्री तथा अन्य उपायों से इसे दूर करने का प्रयास किया। वर्ष 2019 में आरबीआई ने खुले बाजार में खरीद के जरिए करीब 3 लाख करोड़ रुपये की राशि डाली जो ऐतिहासिक है। इसके अलावा 1000 करोड़ डॉलर की का बैंकों के साथ विनिमय किया गया। इन कारणों से बॉन्ड प्रतिफल में कमी आई लेकिन दरों में दो बार कटौती के बावजूद एनबीएफसी के लिए उधारी की दर ऊंची बनी हुई है क्योंकि कर्जदाताओं की मांग नहीं है। म्युचुअल फंड एनबीएफसी के प्रमुख ग्राहक थे लेकिन अपने पोर्टफोलियों में गिरावट को देखते हुए वे भी जोखिम से बच रहे हैं। आईएलऐंडएफएस संकट के बाद वे बिना नुकसान के इससे बाहर नहीं निकल सके। म्युचुअल फंडों को उस समय भी झटका लगा जब उनको एस्सेल समूह के प्रवर्तकों और अनिल अंबानी समूह को ऋण देना रोकना पड़ा। सितंबर 2018 और मार्च 2019 के बीच इस उद्योग के डेट फंड से 68,000 करोड़ रुपये और डेट योजनाओं से 1.3 लाख करोड़ रुपये की निकासी की गई। विश्लेषकों के मुताबिक चिंता की बात यह भी है कि घरेलू थोक ऋण बाजार एनबीएफसी के बीच भेद करता नजर आ रहा है। आईएलऐंडएफएस संकट सामने आने के बाद से बॉन्ड बाजार में हाउसिंग डेवलपमेंट फाइनैंस कॉर्पोरेशन और एलआईसी हाउसिंग फाइनैंस की हिस्सेदारी सबसे अधिक है। जिन कंपनियों को मजबूत माना जाता रहा है कि वे घरेलू बॉन्ड बाजार से राशि जुटाने में सफल रहीं लेकिन शेष कंपनियों पर यह बात लागू नहीं होती। थोक डेट बाजार के दरवाजे बंद होने पर एनबीएफसी फंड के अन्य जरियों मसलन बाह्य वाणिज्यिक ऋण और खुदरा क्षेत्र की ओर निगाह कर रही हैं।

बीते कुछ वर्ष में एनबीएफसी ने खुदरा और छोटे एवं मझोले उपक्रमों को ऋण देने में अहम भूमिका निभाई है। बैंक ऐसा नहीं कर सके हैं। इसके अलावा सरकारी बैंक फंसे कर्ज की समस्या से भी दो-चार हैं। कुछ एनबीएफसी नाकाम हो सकती हैं या फिर उन्हें मजबूत कंपनियों के साथ विलय करना पड़ सकता है लेकिन व्यापक तौर पर देखें तो कुल कारोबार में आ रही कमी अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा संकेत नहीं है। एसएमई पर नोटबंदी का असर पड़ा और उनको वस्तु एवं सेवा कर व्यवस्था के साथ तालमेल करने में भी दिकक्त हुई। उनको उचित लागत पर पूंजी चाहिए। खुदरा ऋण देश में खपत को गति देने के लिए बहुत जरूरी है क्योंकि निवेश में सुधार की कोई संभावना नहीं दिख रही।

अजय मोहंती

मोदी से जूझने का माद्दा रखती हैं ममता बनर्जी

मोदी और शाह की जोड़ी हिंदू-मुस्लिम ध्रुवीकरण के जरिए बंगाल में जीत हासिल करने का प्रयास कर रही है। परंतु ममता बनर्जी उनसे अपने ही तरीके से निपट रही हैं।

आप अपना रूपक चुन सकते हैं: लोहा ही लोहे को काटता है या हीरा हीरे को काटता है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि जहर ही जहर की काट है। इन सारी बातों का मतलब एक है। परंतु चूंकि हम देश के अब तक के सबसे जहरबुझे चुनाव अभियान की बात कर रहे हैं तो इनमें से अंतिम उपमा ही सही प्रतीत होती है।

इस अभियान का रुख प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने तय किया। उनसे यह उपलब्धि कोई नहीं छीन सकता। विरोधियों को देशद्रोही कहने, पाकिस्तान से सांठगांठ वाला बताने, परिवार जमानत पर होने जैसी बातें उन्होंने ही शुरू कीं। उनकी पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमित शाह और उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने इसे आगे बढ़ाया। एक ने मुस्लिम प्रवासियों को दीमक बताया तो दूसरे ने बजरंग बली बनाम अली का राग छेड़ा। देश के बड़े हिस्से में, खासकर हिंदी प्रदेशों में यह कारगर साबित हुआ है। परंतु यह वहीं काम कर रहा है जहां भाजपा की प्रमुख प्रतिद्वंद्वी कांग्रेस है।

महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, दिल्ली, हरियाणा, उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश में भाजपा की यह युक्ति काम कर रही है क्योंकि इन जगह भाजपा के सामने कांग्रेस है। जवाब में कांग्रेस कहती है कि इंदिरा गांधी ने पाकिस्तान के दो टुकड़े किए थे, ऐसे में उसकी देशभक्ति पर सवाल कैसे उठाया जा सकता है? यह भी कि जब कांग्रेस अध्यक्ष के पिता और उनकी दादी आतंकियों के हाथों मारे गए तो उस पर आतंक के खिलाफ नरमी का इल्जाम कैसे लगाया जा सकता है? परंतु यह जवाब रक्षात्मक और नरमी भरा है। जाहिर है जहर को नारियल पानी से नहीं काटा जा सकता।

इसे समझने के लिए पश्चिम बंगाल का उदाहरण देखना होगा। इस प्रांत में पूरे देश में सबसे अधिक मौखिक और भौतिक हिंसा से भरे चुनाव हो रहे हैं। यह वह जगह है जहां मोदी और शाह को दीदी यानी ममता बनर्जी के रूप में अपनी टक्कर का नेता मिला है। भाजपा को जवाब देते हुए वह एक भी ऐसा शब्द नहीं बोलती हैं जिससे लगे कि वह रक्षात्मक हैं। न ही वह पीड़ित नजर आती है। अपना मजाक उड़ाए जाने पर वह भी पलटकर आपका मखौल उड़ाती हैं। वह इतने भद्दे तरीके से प्रत्युत्तर देती हैं जो शायद हाल के दिनों में राज ठाकरे ही कर पा रहे हैं।

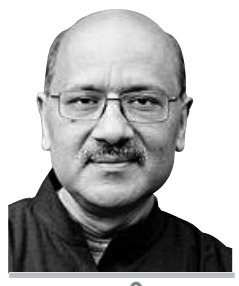

राष्ट्र की बात
शेखर गुप्ता

मोदी-शाह की भाजपा पांच वर्ष से पश्चिम बंगाल पर हमलावर है। अगर हिंदू-मुस्लिम ध्रुवीकरण उसके लिए सत्ता की कुंजी है तो पश्चिम बंगाल इस मामले में उत्तर प्रदेश से भी अधिक संवेदनशील होना चाहिए। ऐसा इसलिए कि असम की तरह पश्चिम बंगाल में भी 30 फीसदी आबादी मुस्लिम है। असम में कांग्रेस की तरह धारणा यही है कि पश्चिम बंगाल में भी पहले वाम और फिर ममता वोट के लिए मुस्लिमों का तुष्टीकरण कर रही हैं।

असम में यह तरीका कामयाब रहा। भाजपा मान रही है कि पश्चिम बंगाल में भी यह कारगर होगा। यही कारण है कि पार्टी यहां 42 में से 22 लोकसभा सीट जीतने का दावा कर रही है। उत्तर प्रदेश (80) और महाराष्ट्र (48) के बाद यह सबसे अधिक सांसदों वाला राज्य है।

भाजपा को लग रहा है कि 2014 में उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों में मिली अपार जीत में इस बार जो कमी आएगी, उसकी भरपाई वह पश्चिम बंगाल में कर लेगी। ऐसा सोचना गलत है। यह सही है कि प्रधानमंत्री की रैलियां सफल रही हैं लेकिन जनाधार की कमी के चलते पार्टी के लिए यहां चुनावी जीत हासिल करना कंचनजंघा पर विजय प्राप्त करने जैसा होगा।

भाजपा की डराने-धमकाने की चाल भी ममता पर बेअसर है। इस वक्त वह संभवत: देश की सबसे सख्त राजनेता हैं। इस मामले में वह मायावती पर भी भारी हैं। उनका अतीत सड़क पर लड़ने का रहा है। राहुल और प्रियंका, कमलनाथ और अखिलेश यादव पर यह बात लागू नहीं होती। हालांकि अरविंद केजरीवाल उस श्रेणी में आते हैं। ममता ने उस राज्य में अपना अस्तित्व कायम किया जो उनके लिए वाम यातना शिविर से कम नहीं था। उन्हें प्रतिकूलता को अवसर में बदलने का हुनर आता है। वह मोदी के इस तंज में भी अवसर तलाश लेती हैं कि बंगालियों के लिए दुर्गापूजा मनाना तक कठिन हो गया है।

मैंने उस दिन उनकी रैलियों का अवलोकन किया जिस दिन फनी तूफान दस्तक दे रहा था और उनका हेलीकॉप्टर हिचकोले खा रहा था। भाटापार (बैरकपुर, जहां से पूर्व रेल मंत्री दिनेश त्रिवेदी चुनाव लड़ रहे हैं) और कोलकाता का बाहरी इलाका राजारहाट (जहां से काकोली घोष तीसरी बार जीत के लिए मैदान में हैं) में भी दुर्गा पूजा चुनावी मुद्दा है। मंच पर वायरलेस माइक लिए यहां-वहां टहलती हुई ममता बिना किसी की आंख में आंख डाले जिस तेजी से बोलती हैं, उसका मुकाबला गौतम गंभीर जैसे जल्दी बोलने वाले वक्ता भी नहीं कर सकते। ममता कहती हैं, 'मोदी बाबू, आपको हम बंगालियों पर चीखने चिल्लाने के पहले गृहकार्य करके आना चाहिए। ऐसा न करने वाले स्कूली बच्चों तक को उनके शिक्षक डांटते हैं। आप झूठ बोलेंगे तो लोग आपके साथ क्या करेंगे? आप बंगाल आकर लोगों से कहते हैं कि यहां दुर्गा पूजा नहीं होती? माताओं और बहनों आप मुझे बताओ, हमारे यहां दुर्गा पूजा होती है या नहीं?' भीड़ इसका जवाब हां में देती है। वह पूछती हैं कि क्या कोई दुर्गा पूजा करने से रोकता है? भीड़ नकारती है। वह लक्ष्मी पूजा, सरस्वती पूजा, क्रिसमस, रमजान और छठ पूजा के होने या न होने के बारे में सवाल करती हैं। भीड़ सारे सवालों का जवाब हां में देती है। इस पर वह कहती हैं कि यहां केवल एक काम नहीं होता- यहां मोदी नहीं होता, यहां भाजपा नहीं है, यहां झूठ नहीं है, कुत्सा (चरित्रहनन) नहीं है। ममता मोदी से कहती हैं कि वे अच्छे से तैयारी करके आएं ताकि उनका मजाक न उड़े। मोदी राहुल को शहजादा कहते हुए या राहुल मोदी को चोर कहते हुए जितना मजाक नहीं उड़ाते, उससे सौ गुना तंज भरे लहजे में वह 'मोदी बाबू' कहती हैं। वह एक सांस में उन तमाम पूजाओं के नाम लेती हैं जो बंगाल में की जाती हैं। वह मोदी पर तंज करती हैं कि क्या उन्हें सरस्वती मंत्र आता है? उसके बाद वह संस्कृत में इस मंत्र का उच्चारण करती हैं। मुस्लिमों समेत तमाम श्रोताओं का उत्साह देखते ही बनता है।

इसके बाद वह खानपान का जिक्र करते हुए कहती हैं, 'मोदी बाबू, अगर हम गुजरात जाते हैं तो ढोकला खाते हैं, तमिलनाडु में इडली, केरल में उपमा, बिहार में लिट्टी-चोखा, गुरुद्वारों में हलवा, पंजाब में लस्सी पीते हैं। आप लोगों को आदेश देते हो कि मछली-मांस और अंडा मत खाओ। गर्भवती महिलाओं को अंडा नहीं खाना चाहिए। मेरे भाई आप कौन हो यह आदेश देने वाले कि महिलाएं क्या खाएं, क्या नहीं?' वह कहती हैं कि देश को वही खाने को कहा जाता है जो मोदी खाते हैं, वह पहनने को कहा जाता है जो मोदी पहनते हैं, पूरा दिन उनको टीवी पर देखने को कहा जाता है। ममता कहती हैं, 'मैं सोचती थी कि वह निस्वार्थ आरएसएस प्रचारक हैं लेकिन खाकी निकर में परेड करने वाले आरएसएस के ये लोग अब पैंट पहनकर, ब्रीफकेस लेकर मॉल में घूमते हैं और करोड़ो कमाते हैं।' वह नोटबंदी को लेकर उन पर हमला करती हैं, लेकिन राफेल पर समय नहीं खराब करतीं। वह अंतिम प्रहार करते हुए कहती हैं, 'अभी कुछ समय पहले जो पार्टी भूखों मरती थी और दिन में तीन बार एक ही बीड़ी फूंकती थी, अब उसके पास अरबों की संपत्ति है।'

जनता की ओर से चौकीदार चोर है कि नारों के बीच वह कहती हैं कि इतना सब कुछ होने पर भी वे खुद को चौकीदार कहते हैं। पश्चिम बंगाल में कांग्रेस उनकी विरोधी है लेकिन उन्होंने राहुल के नारे को अपना लिया है।

सवाल यह है कि यह नारा एक राज्य की नेता के पास इतना प्रभावी क्यों लगता है जबकि कांग्रेस ने इसका अविष्कार किया और देश भर में प्रसार भी किया? ऐसा इसलिए कि शायद कांग्रेस को अभी भी मोदी और शाह की रणनीति को समझना है। अटल बिहारी वाजपेयी और आडवाणी के उलट ये दोनों जमीन पर जूझने वाले हैं और इससे पार्टी की प्रकृति बदल गई है। ऐसे लोगों से इन्हीं के तरीकों से निपटा जा सकता है। अगर मोदी और शाह ने 2019 के आम चुनाव के लिए जहरीली बातों और ध्रुवीकरण को अपना ब्रह्मास्त्र बनाया है, तो ममता बनर्जी भी उनको उनकी सीमाओं का अहसास करा रही हैं कि उनके 42 सीटों वाले राज्य में यह नहीं होगा।

किसी के लिए कहीं से अच्छी नहीं सेना और राजनीति की करीबी

दोधारी तलवार
अजय शुक्ला

वर्ष 2009 में जब यूनाइटेड किंगडम में प्रधानमंत्री पद के आकांक्षी डेविड कैमरन ने घोषणा की थी कि पूर्व ब्रिटिश चीफ ऑफ जनरल स्टाफ, जनरल सर रिचर्ड डन्नाट को हाउस ऑफ लॉर्ड्स में भेजा जा रहा है तो इसकी सार्वजनिक आलोचना हुई थी। स्वयं कैमरन की पार्टी के लोगों ने आपत्ति की थी कि वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों को दलगत राजनीति से दूर रखने की पुरानी परंपरा तोड़ी जा रही है। एक वरिष्ठ टोरी नेता ने द गार्जियन से कहा था, 'यह समझदारी नहीं है। डन्नाट बहुत अच्छे व्यक्ति हैं लेकिन उन्हें राजनीति का अनुभव नहीं है। उनके पास केवल सैन्य अनुभव है। सेना में उनके उत्तराधिकारी इसे लेकर क्या रुख अपनाएंगे?'

हमारे देश में पिछले दिनों जब रक्षा मंत्री निर्मला सीतारामन ने सात वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों को सार्वजनिक समारोह में भाजपा में शामिल किया तब शायद ही किसी ने कुछ कहा। इन अधिकारियों में से एक लेफ्टिनेंट जनरल जेबीएस यादव ने कहा, 'मैं मानता हूं कि आम मान्यता यही है कि रक्षा बलों के सदस्य किसी राजनीतिक दल में नहीं जाएंगे लेकिन हर व्यक्ति का राजनीतिक विचार होता है...हम केवल हाशिए पर नहीं रह सकते।' इस माह के आरंभ में पूर्व सैन्य उप प्रमुख लेफ्टिनेंट जनरल शरद चंद को भी इसी प्रकार सत्ताधारी दल में शामिल किया गया। सेवा में रहने के दौरान उन्होंने रक्षा मामलों की स्थायी संसदीय समिति के समक्ष प्रस्तुत होकर कहा था कि सरकार सेना के पुराने उपकरणों को बदलने के लिए पैसा दे पाने में नाकाम रही है। अब सेवानिवृत्ति के एक वर्ष के भीतर वह कह रहे थे, सेना के लिए भाजपा जितना काम किसी ने नहीं किया। यह सही है कि सेना के अधिकारियों के राजनीति में आने में कोई कानूनी या विधायी बाधा नहीं है, न ही देश के सैन्य अधिकारी सैन्य परंपरा के मुताबिक राजनीति से परहेज करते हैं। फिर भी कई पुराने सैन्य अधिकारियों को सक्रिय राजनीति में आने से एक किस्म का नैतिक परहेज है। वर्दी पहनने के दिन से ही उन्हें सिखाया जाता है कि वे इन चीजों से निरपेक्ष रहें। सैन्य अधिकारियों के मेस में दो विषयों पर चर्चा वर्जित थी, एक तो महिलाएं और दूसरी राजनीति। यही परंपराएं अब तक सेना को राजनीति से बचाती आई हैं।

यही कारण है कि पूर्व सैन्य सेवा प्रमुखों समेत करीब 500 प्रतिष्ठित वरिष्ठ अधिकारियों ने राष्ट्रपति को याचिका देकर राजनेताओं द्वारा सैन्य कार्रवाइयों का श्रेय लेने की बयानबाजी पर नाराजगी प्रकट की। यहां तक कि सैन्य बलों को 'मोदी जी की सेना' तक कह दिया गया। मीडिया में ऐसी तस्वीरें आती रहीं जहां पार्टी कार्यकर्ता चुनावी मंचों और अभियानों में सैन्य वर्दी पहने नजर आए। यह सही है कि देश की रक्षा-सुरक्षा किसी भी सरकार का प्राथमिक कर्तव्य है। हर दल को अपने घोषणापत्र में रक्षा को लेकर विस्तृत जानकारी देनी चाहिए। यह बताना चाहिए कि शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधा जैसे मदों से अत्यंत कम धनराशि के साथ वे सेना को किस तरह मजबूती देंगे। हकीकत में सरकारी व्यय के 16 फीसदी की खपत वाले क्षेत्र को लेकर गंभीर बहस के बजाय संभावित शत्रुओं को धमकाकर और शेखी बघारकर मतदाताओं के एक धड़े को संतुष्ट किया जाता है, जबकि संभावित शत्रुओं को रोकने के लिए कुछ खास उपाय नहीं किए जाते। यहां पर पूर्व सैन्यकर्मियों की अहम भूमिका हो सकती है। मसलन लेफ्टिनेंट जनरल डीएस हुडा ने राष्ट्रीय सुरक्षा नीति तैयार की जो कांग्रेस के घोषणापत्र में रक्षा से जुड़े भाग का हिस्सा है। हुडा ने किसी दल के बजाय अपना अनुभव देशहित में साझा करने की ठानी।

भारतीय सेना दशकों से संसाधनों के लिए जूझ रही है और उसकी उपेक्षा होती रही है, उससे जुड़े लोगों को राजनेताओं की सराहना के रूप में अचानक मिली चकाचौंध पसंद आ सकती है। ये सुर्खियां छंटने के बाद सैन्यकर्मियों को अहसास होता है कि उनके हालात तो जस के तस हैं। अधिक बजट, आधुनिकीकरण, बेहतरीन हथियार आदि के वादे हवा हो जाते हैं। सरकार और रक्षा मंत्रालय हजारों सेवानिवृत्त अपंग सैन्य कर्मियों के संभावित लाभ की राह का रोड़ा बन जाते हैं।

सैनिकों की बहादुरी के बखान के बीच देश के राजनीतिक वर्ग द्वारा सेना को हाशिए पर रखने का आकलन बीते दो दशक में चुनाव मैदान में उतरे सैन्य कर्मियों के आधार पर किया जा सकता है। किंग्स कॉलेज लंदन में भारतीय मामलों के जानकार वाल्टर सी लैडविग ने लोकसभा में सैन्यकर्मियों के प्रतिशत की तुलना यूके की संसद और अमेरिकी कांग्रेस के प्रतिशत से की है। सन 1970 के दशक में 70 फीसदी अमेरिकी कांग्रेस सदस्य सैन्यकर्मी थे। ऐसा वियतनाम युद्ध के समय अनिवार्य सैन्य सेवा के कारण हुआ। सन 1990 तक यह प्रतिशत गिरकर 50 फीसदी पर आ गया। आज, केवल 19 फीसदी अमेरिकी कांग्रेस सदस्य पूर्व सैन्यकर्मी हैं। यूके में यह आंकड़ा 8 फीसदी के आसपास है जबकि भारत में पहली से 14वीं लोकसभा तक केवल 2.4 फीसदी पेशेवर ही सदस्य बने। इनमें पुलिसकर्मी, पूर्व सैन्यकर्मी और डॉक्टर, इंजीनियर जैसे पेशेवर थे।

चुनाव आयोग के आंकड़े बताते हैं कि 1999 के आम चुनाव में 16 पूर्व सैन्य अधिकारियों को टिकट दिया गया था। 2004 में इनकी संख्या घटकर 10 रह गई और 2014 में दोबारा बढ़कर 16 हो गई। यह तादाद कुछ अधिक हो सकती है क्योंकि लैडविग ने सदस्यों के नाम के साथ जुड़े सैन्य परिचय का इस्तेमाल किया। इसमें जनरल वीके सिंह जैसे लोग शामिल नहीं थे जिन्होंने अपनी रैंक का त्याग किया।

कई अराजनीतिक सैन्यकर्मियों के लिए आज अहम सवाल यह है कि क्या सेना का भगवाकरण हो रहा है? याद रहे कि दुनिया भर की सेनाएं रुढ़िवादी होती हैं और उनमें भाजपा जैसे दल की ओर झुकाव की प्रवृत्ति होती है। चिंता की बात है, संघ परिवार द्वारा सैनिकों का देवताकरण। मीडिया इसमें सहायक है। सैन्य अधिकारियों का प्रयोग सरकार का नजरिया रखने के लिए किया जा रहा है या फिर आलोचकों को जवाब देने में। यह उचित नहीं। यह यूरोपीय फासीवादी तरीका समाज, राजनीति और सेना किसी के लिए उचित नहीं। समय आ गया है कि सैन्य अधिकारी इससे दूरी बनाएं।

कानाफूसी

नियुक्ति की पहेली

पूर्व चीफ ऑफ आर्मी स्टाफ (सीओएएस) जनरल दलबीर सिंह सुहाग को पिछले दिनों सेशेल्स का राजदूत नामित किया गया। उन्हें उसी पार्टी ने यह पद सौंपा जिसने सीओएएस के रूप में उनकी नियुक्ति का विरोध किया था। तत्कालीन सेना प्रमुख और मौजूदा विदेश राज्य मंत्री जनरल वीके सिंह ने उस वक्त उन्हें अनुशासनात्मक और निगरानी प्रतिबंध के अधीन रखा था। जाहिर है वीके सिंह ने जनरल सुहाग की किसी भी पद पर नियुक्ति को रोकने का हर संभव प्रयास किया। अब अगर दोबारा राजग की सरकार बनती है और जनरल वीके सिंह पुन: विदेश मंत्रालय में कार्यभार संभालते हैं तो जनरल सुहाग उन्हें रिपोर्ट करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि चुनावों का जनरल सुहाग के जीवन में बहुत अहम स्थान रहा है। कांग्रेस की संप्रग-2 सरकार ने 14 मई 2014 को उन्हें सेना प्रमुख बनाया था। ऐसा लोकसभा चुनाव के नतीजे आने के ठीक दो दिन पहले किया गया था। अब पांच वर्ष बाद जब आम चुनाव के नतीजे आने में कुछ सप्ताह का समय शेष है तो उन्हें एक बार फिर सेवानिवृत्ति के पश्चात एक पद मिला है। यहां बड़ा सवाल यह है कि इस मामले में आखिर भारतीय जनता पार्टी ने वीके सिंह की अनदेखी करने का साहस कैसे जुटाया?

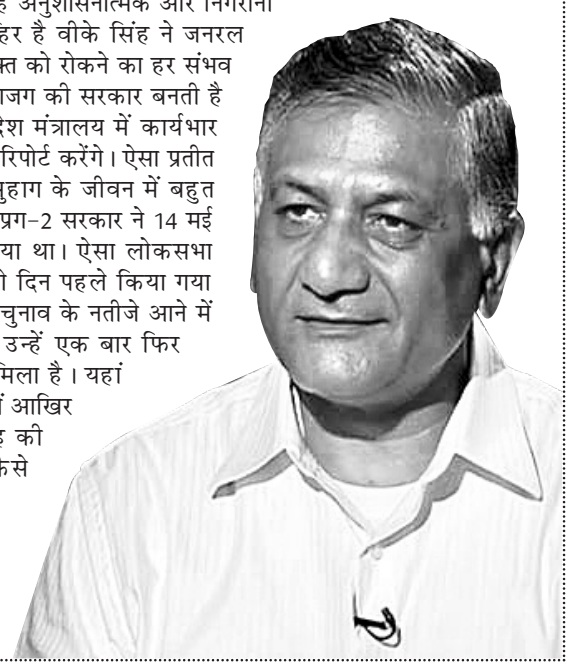

आपका पक्ष

आचार संहिता के दौरान कामकाज

आचार संहिता के दौरान चुनाव कार्य में व्यस्तता का हवाला देकर सरकारी कर्मचारियों व अधिकारियों द्वारा आम जनता से संबंधित कार्यों के प्रति उदासीनता की खबरें आने लगी हैं। इस प्रकार की उदासीनता व लापरवाही उस समय चरम पर पहुंच जाती है जब मतदान संपन्न करा कर मतगणना की तिथि की प्रतीक्षा की जा रही होती है। ऐसा देखा जाता है कि अधिकारी अनुपस्थित रहते हैं या देर से कार्यालय आते हैं। अगर मीडिया में यह खबर आ जाए तो वरिष्ठ अधिकारी औचक निरीक्षण की औपचारिकता निभाते दिखते हैं। इस औचक निरीक्षण के दौरान भी अधिकारी अपने लापरवाह मातहतों का बचाव करते पाए जाते हैं। ऐसा नहीं है कि उच्च पदस्थ अधिकारी केवल आचार संहिता के दौरान ही ऐसा व्यवहार करते हैं, बल्कि ऐसा रवैया साल भर देखने को मिलता है। अक्सर देखा जाता है कि अधिकतर जिला स्तर के

अधिकारियों द्वारा स्थानीय जनप्रतिनिधियों को घंटों इंतजार कराया जाता है। जिले के सुदूरवर्ती क्षेत्रों के दौरे पर जाने वाले जनप्रतिनिधियों को उस दर्जे की सुविधाएं नहीं मिल पाती हैं। सरकारी अतिथि गृहों के कमरे की बुकिंग तक में नौकरशाहों व उनके परिजनों को प्राथमिकता दिए जाने की घटनाएं सामने आती रहती हैं।

आचार संहिता लागू होने के बाद राज्य की मशीनरी चुनाव आयोग के पास चली जाती है

ग्राम पंचायत के प्रतिनिधियों की स्थिति नौकरशाहों के सामने बेहद दयनीय हो जाती है। अपने अधिकारों से अनभिज्ञ पंच, सरपंच पूरी तरह नौकरशाहों की कृपा पर निर्भर देखे जाते हैं। पंचायती राज अधिनियम के कुछ प्रावधान भी ग्राम पंचायत के प्रतिनिधियों को नौकरशाहों पर निर्भर बनाते हैं। ऐसे प्रावधानों में जरूरी संशोधन किए जाने की जरूरत है। अनुशासन की याद दिलाने व जनता के प्रति संवेदनशीलता का व्यवहार सिखाने के किए प्रशासनिक अकादमियों में उच्चाधिकारियों के लिए विशेष सत्र आयोजित करने चाहिए।

ऋषभ देव पांडेय, कोरबा

चीन और आतंकवाद

चीन ने आखिरकार मसूद अजहर को अंतरराष्ट्रीय आतंकी घोषित करने के प्रस्ताव से रोक हटा ही ली। मसूद अजहर और उसका आतंकवादी संगठन जैश ए मोहम्मद काफी समय से भारत में आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देता आ रहा है। उस पर पाकिस्तानी सरकार और सेना का परोक्ष हाथ हमेशा रहा है। यह उम्मीद की जानी चाहिए कि अब मसूद की गतिविधियों पर कुछ रोक लगेगी। 14 फरवरी को पुलवामा हमले में करीब 40 जवान शहीद हो गए थे। पूरे देश में मसूद अजहर के खिलाफ जन आक्रोश उमड़ पड़ा। सरकार ने भी विश्व समुदाय का ध्यान पाकिस्तान में पलते आतंकवाद की तरफ खींचा। विश्व समुदाय के दबाव में पाकिस्तान सरकार ने कुछ प्रतिबंध लगाने की बात कही। ये प्रतिबंध अंतरराष्ट्रीय समुदाय के आतंक के खिलाफ आक्रोश को शांत करने की एक चाल थी। चीन इस वस्तुस्थिति को जानता था लेकिन पाकिस्तान में अपने आर्थिक हितों के मद्देनजर मसूद को अंतरराष्ट्रीय आतंकवादी घोषित करने के प्रस्ताव के खिलाफ वीटो लगाता रहा। बालाकोट हमले के बाद चीन को अंतरराष्ट्रीय मंच पर अलग-थलग पड़ जाने का खतरा मंडराने लगा। इसलिए चीन ने पाकिस्तान के साथ मिलीभगत कर इस प्रस्ताव को मंजूरी दिलवाने में मदद की।

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in
उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।